हिंसक आर्थिकी का प्रतिरोध

मशीन को उसके उचित स्थान पर बैठाना

नंदकिशोर आचार्य
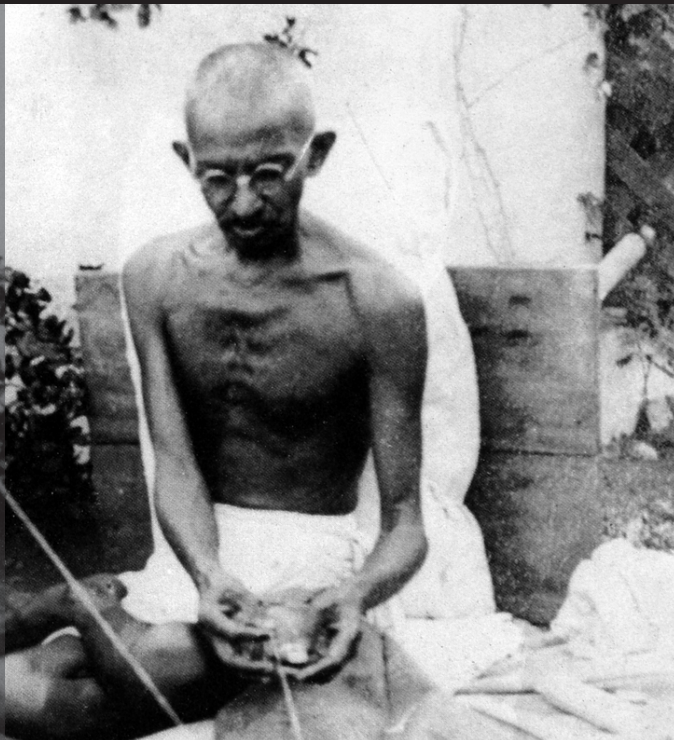
गाँधी की मान्यता थी, 'सच्चा अर्थशास्त्र कभी उच्चतम नैतिक मानकों का विरोधी नहीं होता, ठीक उसी प्रकार जैसे कि सच्चा नीतिशास्त्र वही माना जा सकता है जो नीतिशास्त्र होने के साथ-साथ अच्छा अर्थशास्त्र भी हो। वह अर्थशास्त्र झूठा और निराशाजनक है जो कुबेर की पूजा को प्रश्रय देता हो और शक्तिशाली लोगों को दुर्बल लोगों की क़ीमत पर धन का संचय करने में मदद करता हो। वह तो मौत का पैग़ाम है। इसके विपरीत, सच्चा अर्थशास्त्र सामाजिक न्याय सुनिश्चित करता है, दुर्बलतम व्यक्तियों सहित सब की भलाई को बढ़ावा देता है और ढंग की ज़िंदगी जीने के लिए अपरिहार्य होता है।'[1]

सभ्यता को मूलत: एक नैतिक प्रक्रिया मानने के कारण जीवन के सभी पहलुओं और कार्य-व्यापारों की प्रेरणा और कसौटी में नैतिक बोध को केंद्रीय महत्त्व देना गाँधी के लिए स्वाभाविक ही था। आधुनिक अर्थशास्त्र मनुष्य को मूलत: उपभोग करने वाला प्राणी मान कर चलता है और इसलिए आश्चर्यजनक नहीं लगता कि इस धारणा पर आधारित अर्थव्यवस्था से उपजने वाली सभ्यता में अच्छे जीवन-स्तर का मतलब उपभोक्ता-सुविधाओं में उत्तरोत्तर वृद्धि है। लेकिन, गाँधी के लिए 'सभ्यता, वास्तविक अर्थों में, आवश्यकताओं के बहुलीकरण में निहित नहीं है, बल्कि उन में सोच-समझ कर स्वैच्छिक रूप से कमी करने में है।'[2] गाँधी की दृष्टि में मनुष्य मूलत: उपभोक्ता नहीं बल्कि एक

[1] *हरिजन*, 19 अक्तूबर, 1937 : 292.
[2] *यंग इंडिया*, 5 फ़रवरी, 1925 : 48.

नैतिक अस्तित्व है। यह सही है कि जीवन जीने के लिए कुछ साधनों की आवश्यकता होती है। इस अर्थ में वह उपभोक्ता भी है। लेकिन, गाँधी के अनुसार, उपभोग में भी उसे नैतिक मूल्यों का निर्वहन करना चाहिए। उसका उपभोग भी, अंततः उसके नैतिक विकास की प्रक्रिया का ही अंगभूत होना चाहिए। इसीलिए, गाँधी उपभोक्ता को भी सत्याग्रही बनने का आमंत्रण देते हुए कहते हैं कि शोषित श्रम द्वारा तैयार की गयी वस्तुओं को ख़रीदना और उनका इस्तेमाल करना पापयुक्त है। शोषित श्रम से उत्पादित वस्तुओं का बहिष्करण भी शोषण के ख़िलाफ़ एक प्रकार का सत्याग्रह है। इसी तरह जब वे उपभोक्ता को आवश्यकताओं के बहुलीकरण के प्रति जागरूक करते हैं तो एक ओर, उपभोक्ता को नैतिक विकास के लिए प्रेरित करते हैं क्योंकि यदि मनुष्य एक नैतिक प्राणी है तो अनावश्यक उपभोग से बचना उसके लिए ज़रूरी है, तो दूसरी ओर, अनावश्यक उपयोग के लिए अनावश्यक उत्पादन के कारण हो रही प्राकृतिक संसाधनों की हिंसक बरबादी को भी नियंत्रित करने की कोशिश करते हैं। उत्पादन में अनावश्यक वृद्धि ही आर्थिक संस्थाओं और राष्ट्रों के बीच आर्थिक होड़ और उससे प्रेरित क्रूर नैतिक और सैनिक कार्रवाइयों को जन्म देती है।

आधुनिक अर्थशास्त्र उपभोग-वृद्धि को एक जीवन-मूल्य के रूप में स्थापित करता है अर्थात् उपभोग ही सभ्यता का प्रमाण हो जाता है और अत्यधिक सभ्य होने के लिए यह ज़रूरी हो जाता है कि हम अपनी आवश्यकता बढ़ाते चलें। अर्थशास्त्र को माँग और आपूर्ति का शास्त्र माना जाता है, लेकिन 'विकास' के लिए ज़रूरी हो जाता है कि कृत्रिम माँगों की सृष्टि की जाए क्योंकि उसके बिना आर्थिक विकास की प्रक्रिया के रुक जाने का ख़तरा पैदा हो जाता है। जिसका तात्पर्य है सम्पूर्ण आधुनिक अर्थ-व्यवस्था का ढह जाना। 'माँग' और 'आपूर्ति' के सिद्धांतकार अल्फ्रेड मार्शल को भी यह मानना पड़ा था कि 'आर्थिक संगठन का उद्देश्य ज़रूरतों की पूर्ति करना ही नहीं, नयी ज़रूरतों की सृष्टि करना भी है।' मार्शल के ही शब्दों में, 'यद्यपि अपने विकास के प्रारम्भिक चरण में मनुष्य की ज़रूरतें ही उसे क्रियाशील करती हैं, किंतु अनंतर हर नया क़दम नयी ज़रूरतों के लिए नयी क्रियाशीलता के बजाय ऐसी क्रियाशीलता के रूप में सामने आता है जो नयी ज़रूरतों को पैदा करती है।' इसी प्रक्रिया ने सामाजिक-राजनीतिक हिंसा तो पैदा की ही, साथ ही पारिस्थितिकी और पर्यावरण की समस्याएँ भी उसी का परिणाम है। दुनिया भर के अर्थशास्त्री-समाजशास्त्री और नीति-नियंता आज जिन दो समस्याओं को लेकर सर्वाधिक चिंतित हैं, वे हैं रोज़गारविहीन विकास तथा पारिस्थितिकीय असंतुलन। उनका कोई स्थायी समाधान उन्हें नहीं सूझ रहा है।

ज़ाहिर है कि इन समस्याओं का कोई स्थायी समाधान तब तक सम्भव नहीं है, जब तक हम उन कारणों को मिटाने का संकल्प नहीं करते जिन्होंने ये समस्याएँ पैदा की हैं। शूमाकर जैसे वैकल्पिक चिंतन करने वाले अर्थशास्त्री यह मानते हैं कि हम अपनी मूल पूँजी— प्राकृतिक संसाधनों— को ही मुनाफ़ा समझ कर खाते जा रहे हैं और उसका कारण यह है कि वास्तविकता से विमुख होकर हम 'उन सभी चीज़ों को मूल्यहीन मानने लगे हैं', जिन्हें हमने स्वयं नहीं बनाया है।[3] वे भी गाँधी की तरह यह मानते हैं कि इस का मूल कारण जीवन के प्रति हमारी दृष्टि में है। वे कहते हैं : 'हम, दरअसल, एक तत्त्वमीमांसीय रोग के शिकार हैं, इसलिए इस का इलाज भी तत्त्वमीमांसीय ही होना चाहिए।'[4]

गाँधी का अर्थशास्त्रीय चिंतन इस तत्त्वमीमांसीय रोग का निदान करते हुए आर्थिक क्रियाशीलताओं को भी अहिंसा-तत्त्व पर विकसित करना चाहता है। गाँधी के चिंतन के केंद्र में वह मनुष्य है, जिसका नैतिक कल्याण उसके भौतिक कल्याण से विलग नहीं है। इसीलिए वे कहते हैं : 'मैं अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र के बीच कोई सुस्पष्ट या अन्य प्रकार का भेद नहीं करता। वह अर्थशास्त्र अनैतिक और

[3] ई.एफ़. शूमाकर (1997) : 12.

[4] वही : 71.

इसीलिए पापयुक्त है जो किसी व्यक्ति अथवा राष्ट्र के नैतिक कल्याण को आघात पहुँचाता है। तदनुसार वह अर्थशास्त्र पापयुक्त है जो यह अनुमति देता है कि एक देश दूसरे देश को लूट ले। शोषित श्रम द्वारा तैयार की गयी वस्तुओं को ख़रीदना और उनका इस्तेमाल करना पापयुक्त है।[5] एक जगह वे और भी स्पष्ट कहते हैं : 'मैं यह नहीं मानता कि आध्यात्मिक नियम के प्रवर्तन का अपना कोई विशिष्ट क्षेत्र है। इसके विपरीत, वह जीवन के दैनंदिन क्रियाकलाप के माध्यम से ही स्वयं को अभिव्यक्त करता है। इस प्रकार, यह आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक सभी क्षेत्रों को प्रभावित करता है।'[6]

गाँधी की तत्त्वमीमांसा यह मानती है कि यह अस्तित्व एक है, जिसका मानवीय प्रतिफलन प्रेम या अहिंसा है। इसका तात्पर्य होता है कि मानव के विकास का निहितार्थ उसमें निरंतर अहिंसा का विकास होगा और तब सारे मानवीय कार्य-व्यापारों का एक अंतर्निहित उद्देश्य उनके माध्यम से अहिंसा या प्रेम का विकास होगा। 'अहिंसा, वस्तुत:, एक सकारात्मक धारणा है और उसका उत्स पूरे जीवन के प्रति तात्त्विक ऐक्य के बोध से उत्पन्न भावात्मक आकर्षण, करुणा और लगाव की भावना में है और इसीलिए उसका क्षेत्र केवल मानसिक आध्यात्मिक ही नहीं है। वह पूरे भौतिक जीवन को भी अपनी परिधि में ले लेती है। इस दृष्टि से आर्थिक जीवन और प्रक्रिया को भी अहिंसा की परिधि के अंतर्गत ही समझना चाहिए।'[7] गाँधी यह मानते हैं कि जो वस्तु अधिकतर लोगों को उपलब्ध नहीं है, उसका उपभोग करने से इनकार कर देना चाहिए। वे जब कहते हैं कि अपनी ज़रूरत से अधिक संग्रह करना एक प्रकार की चोरी है, क्योंकि वह किसी अन्य को उस वस्तु से वंचित रखना है, तो वे प्रूधो के इस कथन की याद दिलाते हैं कि 'सारी-सम्पत्ति चोरी है।' इसीलिए सम्पत्ति के निजी संचय को वे स्वयं अमीरों के नैतिक पतन का लक्षण मानते हैं क्योंकि वह 'हिंसक तरीक़ों को अपनाए बिना सम्भव नहीं हैं...। किसी भी व्यक्ति को समाज के अन्य सदस्यों की सहायता या सहयोग से भौतिक अथवा आध्यात्मिक पूँजी का संचय करके उसे अपने निजी लाभ के लिए इस्तेमाल करने का नैतिक अधिकार नहीं है।'[8] स्पष्ट है कि निजी लाभ और उपभोग के लिए पूँजी संचय करने वालों को गाँधी अनिवार्यत: अनैतिकता या पाप में लिप्त समझते हैं और गाँधी के शब्दकोश में 'पाप' या 'अधर्म' से कठोर और कोई शब्द नहीं हो सकता। इसी तरह, दूसरी ओर, अमीरों के शोषण से उत्पन्न ग़रीबी को ही वे ग़रीबों के नैतिक पतन के लिए भी ज़िम्मेदार मानते हैं। उन्हीं के शब्दों में, 'ग़रीबी में पिसते रहने पर भी कोई नैतिक अध:पतन से बच सकता है, ऐसा किसी ने कभी नहीं कहा।'[9] वे स्वैच्छिक त्याग को तो महत्त्व देते हैं, ग़रीबी के जीवन को नहीं क्योंकि ग़रीबी विवशता होने के कारण अभिशाप है, जबकि स्वैच्छिक त्याग भौतिक विकास की प्रक्रिया है। ग़रीबी दूर करने के लिए उनके मन में कितनी छटपटाहट है, इसे केवल इस बात से जाना जा सकता है कि आध्यात्मिकता को जीवन की सार्थकता की कसौटी मानने वाले गाँधी यहाँ तक कह देते हैं कि 'दरिद्रों के लिए आर्थिक ही आध्यात्मिक' है तथा ग़रीबों के लिए 'ईश्वर रोटी और मक्खन के रूप में ही प्रकट हो सकता है।'[10] स्पष्ट है कि शोषण और ग़रीबी को मिटाने के लिए प्रयास करना भी गाँधी के लिए एक आध्यात्मिक प्रकृति का काम है क्योंकि वे मानते हैं कि आर्थिक समानता के बिना अहिंसक स्वाधीनता भी सम्भव नहीं है।[11] आर्थिक

[5] *यंग इंडिया,* 13 अक्तूबर, 1921 : 325.
[6] वही, 3 सितम्बर, 1925 : 398.
[7] नंदकिशोर आचार्य (2012) : 37–38.
[8] जी.ए. नटेसन ऐंड कम्पनी (1923) : 353.
[9] आचार्य कृपलानी (1978), : 396.
[10] *यंग इंडिया,* 15 अक्तूबर, 1931 : 310.
[11] नंदकिशोर आचार्य (2012), वही : 42.

समानता को 'अहिंसक स्वाधीनता की सर्वकुंजी (मास्टर की)[12]' मानने के कारण गाँधी का अर्थशास्त्रीय चिंतन पूँजीवादी सभ्यता के ख़िलाफ़ एक वैचारिक विद्रोह का ही रूप है। इसलिए, वे केवल वैयक्तिक स्तर पर सम्पत्ति-निर्माण का विरोध ही नहीं करते बल्कि, साथ ही पूरी आर्थिक प्रक्रिया में ऐसे मूलगामी संरचनात्मक परिवर्तन का प्रस्ताव करते हैं, जिस में परिग्रह या सम्पत्ति के केंद्रीकरण की सम्भावना ही न रहे और सभी का भौतिक ही नहीं, नैतिक कल्याण भी हो सके।

आर्थिक प्रक्रिया के अध्ययन में मोटे तौर पर तीन बातों पर ध्यान देना ज़रूरी है : उत्पादन का उद्देश्य, उत्पादन की पद्धति और लाभ का वितरण। एडम स्मिथ जैसे अर्थशास्त्रियों की धारणा थी कि उत्पादन में निरंतर वृद्धि में ही सभी आर्थिक समस्याओं का समाधान निहित है। आर्थिक स्वतंत्रता वैयक्तिक स्वतंत्रता की धारणा का आर्थिक आयाम है, इसलिए उसमें राज्य या किसी बाहरी शक्ति का हस्तक्षेप अनुचित होगा। जान लॉक जैसे विचारक की मान्यता थी कि सम्पत्ति का अधिकार स्वतंत्रता की रक्षा के लिए आवश्यक है। पूँजीवादी अर्थशास्त्र मानता है कि आदर्श बाज़ार वह है जिसमें ग्राहक और उत्पादक दोनों पक्षों को मोलतोल करने की पूरी स्वतंत्रता और शक्ति हो और ऐसा केवल मुक्त बाज़ार की अर्थव्यवस्था में ही सम्भव है। इन्हीं तर्कों के आधार पर एडम स्मिथ ने मुक्त बाज़ार की अवधारणा का प्रतिपादन किया। उनकी मान्यता थी कि उत्पादन में बढ़ोतरी के साथ रोज़गार की सम्भावनाएँ बढ़ती जाएँगी और यदि राज्य आर्थिक प्रक्रिया में कोई हस्तक्षेप न करे तो एक 'अदृश्य हाथ' उत्पादन में विकास के लाभ को समाज के निम्नतम स्तर तक पहुँचा देगा। आजकल जिस उदारीकरण और भूमण्डलीकरण की नीतियों का बोलबाला है, उसका अर्थशास्त्रीय-तात्त्विक आधार एडम स्मिथ ने ही अपनी किताब *वेल्थ ऑफ़ नेशंस* में प्रस्तुत किया था। भूमण्डलीकरण के समर्थकों का तर्क भी यही है कि यदि कोई देश अपने यहाँ के उत्पादक बाज़ार को कुछ सब्सिडी देता या दूसरों की अपेक्षा अधिक सुविधाएँ उपलब्ध करवाता है तो यह स्वस्थ प्रतिस्पर्धा को दबाना है, जिसका ख़मियाज़ा अंततः, उपभोक्ता अर्थात् समाज को उठाना पड़ता है। इसलिए अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भी मुक्त बाज़ार नैतिक और आर्थिक दोनों कसौटियों पर खरा उतरता है। यह मानवीय स्वातंत्र्य को आर्थिक क्रियाशीलता में प्रतिष्ठित करता है और समाज की आवश्यकताएँ कम क़ीमतों में पूरी करने की गारंटी करता है।

लेकिन, एडम स्मिथ के तर्क के आधार पर जिस मुक्त बाज़ार का विकास हुआ, उसने स्वयं उसके निष्कर्षों को ही ग़लत साबित कर दिया। उत्पादन में वृद्धि के उद्देश्य से तकनीकी के विकास में मानव-श्रम की भूमिका के कमज़ोर होते चले जाने से रोज़गार की सम्भावनाएँ कमज़ोर होती चली गयी हैं और अर्थशास्त्रियों की राय में हम अब रोज़गारविहीन विकास— जॉबलेस ग्रोथ— की स्थिति में आ रहे हैं। अर्थात् विकास का तात्पर्य उत्पादन-वृद्धि तो है, पर उसके साथ रोज़गार के अवसरों की उपलब्धि घट रही है। यह स्थिति वास्तव में विकास की वर्तमान प्रक्रिया की विफलता का नहीं, बल्कि उसकी सफलता का अनिवार्य परिणाम है। उत्पादन में वृद्धि विकास का लक्षण है और उसकी दर को निरंतर बढ़ाते जाने के लिए नित नये तकनीकी परिवर्तनों की ज़रूरत पड़ती है। इसे अर्थशास्त्र की भाषा में 'हाइ रेट ऑफ़ डिवेलपमेंट' —एचआरडी— कहा जाता है और इसे हासिल करने के लिए तकनीकी-रूपांतरण — टेक्नोलॅजिकल ट्रांसफ़ॉरमेशन— अनिवार्य है, जिस का तात्पर्य है ऐसी तकनीकी को अपनाएँ जिसमें कम-से-कम मानवीय श्रम और सामाजिक समय के निवेश के माध्यम से अधिक-से-अधिक उत्पादन हो। अतः रोज़गार के अवसरों में कमी इसका स्वाभाविक परिणाम है। इसका तात्पर्य है समाज की क्रयशक्ति में कमी और ज़ाहिर है क्रयशक्ति के अभाव में कोई उत्पादन-वृद्धि टिकाऊ

[12] वही : 43.

नहीं हो सकती। वह मंदी का शिकार होती रहेगी। यदि हम इस बात को भूल भी जाएँ— यद्यपि वह भूल जाने की बात नहीं है— कि उत्पादन में इस अंधाधुंध वृद्धि ने— मार्शल के अनुकरण में— कितनी कृत्रिम माँगों को जन्म दिया, पर्यावरण और पारिस्थितिकी की कितनी हानि की और आर्थिक प्रतिस्पर्धा के चलते सैन्यवाद के विकास ने दो महायुद्धों और जाने कितने छोटे-छोटे युद्धों को जन्म देने के साथ-साथ बाज़ार को भयंकर संहारक शस्त्रों से भर दिया है तो भी केवल शुद्ध आर्थिक दृष्टि से इसने स्वयं ही एडम स्मिथ की मान्यताओं को झुठला दिया है।

एडम स्मिथ ने जब मुक्त बाज़ार और स्वस्थ प्रतिस्पर्धा की बात की थी तो इस ख़तरे से भी सचेत किया था कि आर्थिक शक्ति का केंद्रीकरण बाज़ार को भी वास्तविक अर्थों में स्वतंत्र नहीं रहने देगा। विडम्बना यह है कि राज्य के हस्तक्षेप के बिना आर्थिक केंद्रीकरण को रोक पाना भी मुमकिन नहीं। एडम स्मिथ स्वयं बाज़ार से ऐसे बड़े प्रतिद्वंद्वियों को बाहर ही रखना चाहते थे जो एकाधिकारवादी हो सकें। उदारीकृत भूमण्डलीकरण में बाज़ार वास्तविक अर्थ में मुक्त होने के बजाय एकाधिकारवादी प्रवृत्तियों में घुटता जा रहा है। बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के आपसी समझौते बाज़ार को वास्तविक अर्थ में प्रतिस्पर्धात्मक नहीं रहने दे रहे हैं। भूमण्डलीकरण के इस रूप को कॉरपोरेट भूमण्डलीकरण कहा जा रहा है। डेविड कोरटेन ने अपने अध्ययन *वेन कॉरपोरेशंस रूल द वर्ल्ड* में भलीभाँति सिद्ध किया है कि बाहर से अलग दिखने वाली बहुराष्ट्रीय कम्पनियों और राष्ट्रीय कम्पनियों के आपसी संबंध जुड़ कर इस प्रकार घनिष्ठ हो चले हैं कि अब उन्हें वास्तविक अर्थ में प्रतिस्पर्धा कहना संगत नहीं होगा। अपने तर्क की पुष्टि में कोरटेन कृषि-बाज़ार की दो वैश्विक कम्पनियों— कारगिल और आर्चर डेनियल्स मिडलैंड— की संयुक्त उद्यमिता का उदाहरण देते हैं, जिसका परिणाम यह निकला है कि पहले खाने पर खर्च होने वाले प्रत्येक डॉलर का 41 प्रतिशत जिस किसान को मिलता था, अब उसे केवल नौ प्रतिशत मिल पा रहा है, जबकि उपभोक्ता को पहले से अधिक चुकाना पड़ रहा है। प्रसिद्ध व्यापार-प्रबंधक साइरस फ्रीडहीम का निष्कर्ष है कि कुछ ही अरसे में विश्व-अर्थव्यवस्था का नियंत्रण जिस प्रवृत्ति से संचालित होगा, उसे 'संयुक्त उद्यमिता'— रिलेशनशिप एंटरप्राइज़— कहा जाना चाहिए। इस प्रकार के एकाधिकारवाद को राजसत्ता द्वारा भी नियंत्रित नहीं किया जा सकेगा, क्योंकि स्वयं राज्य की शक्ति इनसे कम होगी। क्या कुछ वैसे ही जैसे भारत के देशी राज्यों की शक्ति ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कम्पनी से कम हो गयी थी?

मार्क्स लिखते हैं : 'बड़े उद्योगों में पहली बार उत्पादन के साधनों और व्यक्तिगत सम्पत्ति का अंतर्विरोध उभरता है और यह बड़े उद्योगों का परिणाम है। साथ ही, इस अंतर्विरोध को उभारने के लिए बड़े उद्योगों का उच्च विकास होना चाहिए। इस तरह, केवल बड़े उद्योगों के विकास के साथ ही व्यक्तिगत सम्पत्ति का विनाश सम्भव है।' यहाँ मार्क्स अनुमान नहीं लगा पाए कि बड़े उद्योगों का बीज एक ख़ास तरह की तकनीकी है, जिस पर विकसित आधुनिक पूँजीवाद एक अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था बन जाता है जिसमें व्यक्तियों का स्थान कॉरपोरेट ले लेंगे।

डेविड कोरटेन का कहना है कि आज की कॉरपोरेट व्यवस्था एक आयोजित प्रतिस्पर्धा का स्वाँग रचती है। एक ओर वह परस्पर जुड़ी रहती है और दूसरी ओर परिधि पर रहने वाली छोटी कम्पनियों के बीच प्रतिस्पर्धा को बढ़ावा देती रहती है और इसका परिणाम होता है कि लागत का बड़ा हिस्सा छोटी कम्पनियों को उठाना पड़ता है और लाभ का बड़ा हिस्सा कॉरपोरेट जगत को मिल जाता है। इसका एक और उप-परिणाम यह होता

है कि छोटी कम्पनियाँ या तो इस कॉरपोरेट भूमण्डलीकरण में घुला दी जाती हैं या उसकी एजेंट हो जाती है। इस अर्थव्यवस्था ने आर्थिक स्वातंत्र्य के तर्क के आवरण में पूँजी का केंद्रीकरण तो बढ़ाया, पर अदृश्य हाथ उसे उचित तरह से निम्नतम स्तर तक नहीं पहुँचा पाया— बल्कि पूँजी की प्रतिद्वंद्विता ने न केवल युद्धों को जन्म दिया, बल्कि साथ ही, विकास अर्थात् उत्पादन-वृद्धि की अंधाधुंध दौड़ ने पृथ्वी को ही ज़हरीला बना दिया— न ख़ुदा ही मिला, न विसाले सनम।

पूँजी के इस खेल को कार्ल मार्क्स और उनके मित्र फ्रेडरिक एंगेल्स ने बहुत अच्छी तरह समझते हुए एक विकल्प की ओर ध्यान आकर्षित किया। मार्क्स की शायद सर्वाधिक अंतर्दृष्टिपूर्ण मान्यता यह है कि सामाजिक अधिरचना का आधार उत्पादन-संबंध होते हैं जो उत्पादन के साधनों अर्थात् तकनीकी में परिवर्तन के साथ बदलते हुए नयी अधिरचना का आधार बनते हैं। मार्क्स की यह धारणा इतिहासकारों के उस वर्ग से मिलती है जो मानव-जाति के विकास का अध्ययन तकनीकी विकास की दृष्टि से करता है। इन इतिहासविदों की मान्यता है कि एक नयी तकनीकी का आविष्कार मनुष्य के लिए परिवर्तन की नयी सम्भावनाएँ प्रकट करता है और न केवल उसकी उत्पादन-पद्धति और अर्थ-व्यवस्था उससे बदल जाती है, बल्कि उसका असर समूची सामाजिक संरचना और संस्कृति पर पड़ता है। मानव-जाति के तकनीकी आविष्कारों के इतिहास का अध्ययन करते हुए इतिहासविद हेरल्ड इन्निस ने इस बात को पहचाना था कि प्रत्येक नया तकनीकी साधन कुछ ही दिनों में साधन न रह कर साधक हो जाता है क्योंकि आविष्कृत हो जाने पर ये उपकरण स्वायत्त हो जाते हैं और फिर अन्य उपकरणों के साथ मिलकर मनुष्य का ही पुनराविष्कार करते हैं। मनुष्य के पुनराविष्कार से इन्निस का तात्पर्य मनुष्य के नये संबंधों के आविष्कार से भी है क्योंकि जिसे हम संस्कृति या सभ्यता कहते हैं, उसका प्रमुख आयाम मानवीय संबंध है। किसी नयी तकनीकी से मानव-संबंधों में परिवर्तन होने के कारण तकनीकी को मूल्य-निरपेक्ष कहना संगत नहीं होगा।

मार्क्स और उनके अनुयायी शायद इस बात को नहीं समझ पाए। पूँजीवादी समाज में पूँजी के निर्माण की प्रक्रिया और उसके आधार पर वर्ग-विभाजन और द्वंद्वात्मक वर्ग-संबंधों का विश्लेषण करते हुए वे इस बात को भूल गये कि जिन तकनीकी उपकरणों के आधार पर बने उत्पादन-संबंधों के कारण पूँजीवाद का विकास होता है, उन्हीं के आधार पर एक समतावादी समाज विकसित नहीं हो सकेगा— चाहे राजसत्ता का समर्थन इस उद्देश्य को प्राप्त भी हो। आख़िरकार राजसत्ता भी अंततः उन्हीं उत्पादन-संबंधों के आधार पर विकसित अधिरचना ही है। इस दृष्टि से साम्यवादी क्रांति की शुरुआत उत्पादन-संबंधों में परिवर्तन से होनी चाहिए थी और इस परिवर्तन का कारक उत्पादन के उपकरणों में परिवर्तन को होना था। सोवियत साम्यवादी व्यवस्था ही नहीं, सभी तरह की समतावादी व्यवस्थाओं की सबसे बड़ी भ्रांति यही रही कि उन्होंने उत्पादन के साधनों अर्थात् तकनीकी में बुनियादी परिवर्तन के बिना ही बुनियादी सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन लाने के 'अवैज्ञानिक' प्रयास किये।[13]

स्वयं कार्ल मार्क्स भी इस अंतर्विरोध पर ध्यान नहीं दे पाए थे। बड़े उद्योगों के साथ जिस पूँजीवादी और आर्थिक एकाधिकारकवाद का विकास अनिवार्यतः जुड़ा है, उसे ही मार्क्स ने व्यक्तिगत सम्पत्ति की समाप्ति का आधार माना। *जर्मन आइडियोलॉजी* में मार्क्स लिखते हैं : 'बड़े उद्योगों में पहली बार उत्पादन के साधनों और व्यक्तिगत सम्पत्ति का अंतर्विरोध उभरता है और यह बड़े उद्योगों का परिणाम है। साथ ही, इस अंतर्विरोध को उभारने के लिए बड़े उद्योगों का उच्च विकास होना चाहिए। इस तरह, केवल बड़े उद्योगों के विकास के साथ ही व्यक्तिगत सम्पत्ति का विनाश सम्भव है।' यहाँ मार्क्स अनुमान नहीं लगा पाए कि बड़े उद्योगों का बीज एक ख़ास तरह की तकनीकी है, जिस पर विकसित आधुनिक पूँजीवाद एक अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था बन जाता है जिसमें व्यक्तियों का

[13] वही : 96.
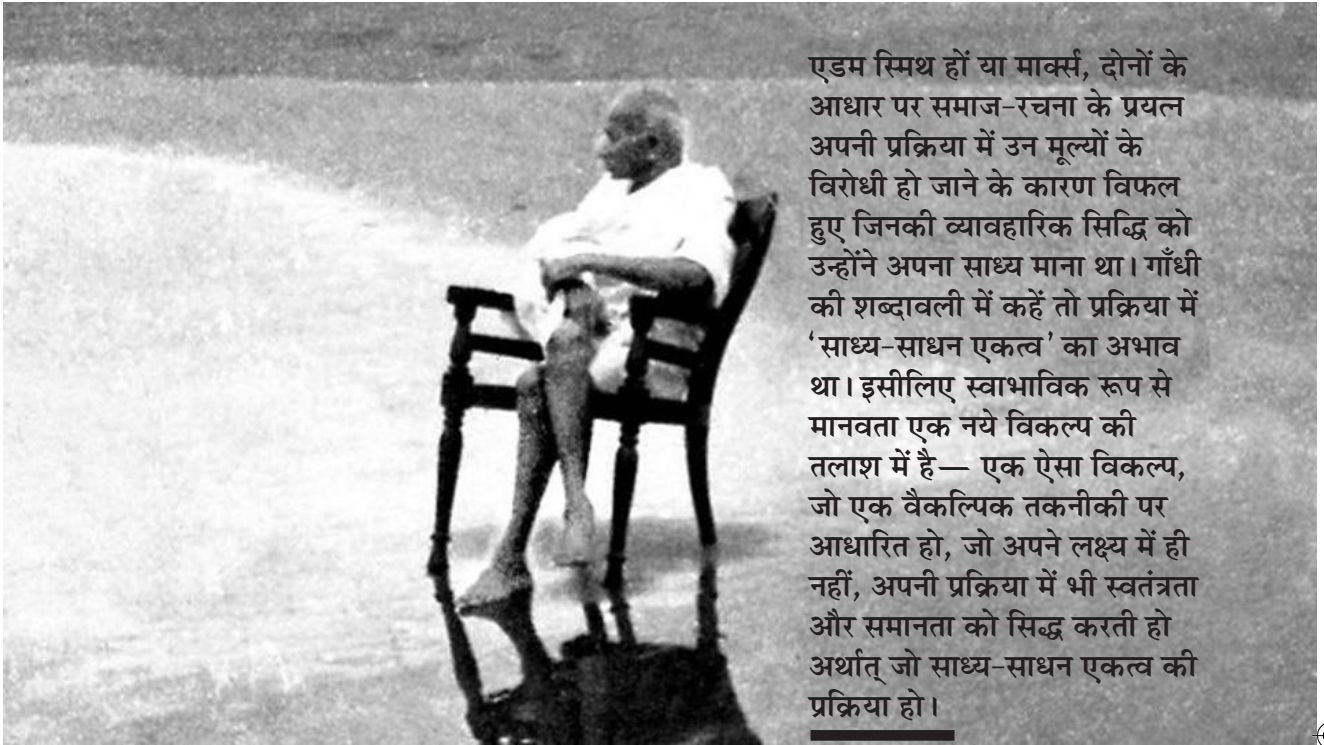
एडम स्मिथ हों या मार्क्स, दोनों के आधार पर समाज-रचना के प्रयत्न अपनी प्रक्रिया में उन मूल्यों के विरोधी हो जाने के कारण विफल हुए जिनकी व्यावहारिक सिद्धि को उन्होंने अपना साध्य माना था। गाँधी की शब्दावली में कहें तो प्रक्रिया में 'साध्य-साधन एकत्व' का अभाव था। इसीलिए स्वाभाविक रूप से मानवता एक नये विकल्प की तलाश में है— एक ऐसा विकल्प, जो एक वैकल्पिक तकनीकी पर आधारित हो, जो अपने लक्ष्य में ही नहीं, अपनी प्रक्रिया में भी स्वतंत्रता और समानता को सिद्ध करती हो अर्थात् जो साध्य-साधन एकत्व की प्रक्रिया हो।

स्थान कॉरपोरेट ले लेंगे। लेकिन, साम्यवादी विकल्प के विफल हो जाने का तात्पर्य कॉरपोरेट पूँजीवाद की अपरिहार्यता नहीं है— जैसा अधिकांश आर्थिकीविद मानने लगे हैं। मार्क्स अंततः एक स्वतंत्र मनुष्य और समतावादी स्वतंत्र समाज का स्वप्न देख रहे थे। एडम स्मिथ हों या मार्क्स, दोनों के आधार पर समाज-रचना के प्रयत्न अपनी प्रक्रिया में उन मूल्यों के विरोधी हो जाने के कारण विफल हुए जिनकी व्यावहारिक सिद्धि को उन्होंने अपना साध्य माना था। गाँधी की शब्दावली में कहें तो प्रक्रिया में 'साध्य-साधन एकत्व' का अभाव था। इसीलिए स्वाभाविक रूप से मानवता एक नये विकल्प की तलाश में है— एक ऐसा विकल्प, जो एक वैकल्पिक तकनीकी पर आधारित हो, जो अपने लक्ष्य में ही नहीं, अपनी प्रक्रिया में भी स्वतंत्रता और समानता को सिद्ध करती हो अर्थात् जो साध्य-साधन एकत्व की प्रक्रिया हो। आधुनिक भौतिकी ने भी अब तो यह स्पष्ट कर दिया है कि तत्त्व और प्रक्रिया अंततः अभेद सिद्ध है। तत्त्व और प्रक्रिया के इस अभेदत्व की आर्थिक-राजनीतिक और सांस्कृतिक सिद्धि तभी सम्भव है, जब तक स्वतंत्र और नैतिक समाज और मनुष्य का विकास करने के लिए एक ऐसी आर्थिक-राजनीतिक तकनीकी का विकास किया जाए जो अपने फल में ही नहीं, अपनी प्रक्रिया में भी स्वतंत्रता, समता और सत्ता-रूपों के विकेंद्रीकरण को पुष्ट करने वाली हो।

इसलिए गाँधी का ध्यान सबसे पहले उत्पादन-पद्धति अर्थात् तकनीकी की ओर जाता है। आधुनिक उत्पादन प्रक्रिया और आर्थिक विकास एक भारी और जटिल तकनीकी पर निर्भर करता है। लेकिन, आर्थिक विकास को पूर्णतः मशीनों पर निर्भर कर देने का अर्थ उत्पादन-प्रक्रिया और आर्थिक जीवन को मानवेतर नियंत्रण में कर देना है। सामान्यतः, मनुष्य यही सोचता है कि यंत्रोद्योग उसके नियंत्रण में है और वह अपनी इच्छानुसार उनका उपयोग कर सकता है। लेकिन, यंत्रों और तकनीकी की अपनी प्रकृति और प्रक्रिया होती है। वह ऐसा दुष्चक्र होता है, जिससे बचना सम्भव नहीं है। 'टेक्नोलॉजिकल डिटरमिनिज़म'— प्रौद्योगिकीय नियतिवाद आधुनिक युग की ऐसी समस्या है जिसने

बहुत-से अर्थशास्त्रियों और समाजविज्ञानियों का ध्यान आकर्षित किया है। उनका मानना है कि 'किसी भी संस्कृति की प्रेरक शक्ति उसकी टेक्नोलॅजी में होती है।'[14] आधुनिक तकनीकी प्रकृति के साथ अनिवार्य हिंसा का रिश्ता रखती है। उसका पेट भरने के लिए अधिकाधिक प्राकृतिक संसाधनों की आवश्यकता होती है। यदि इन संसाधनों का प्रयोग कम कर दिया जाता है तो यह तकनीकी उस आर्थिक विकास की दृष्टि से अनुपयोगी और अनार्थिक हो जाती है जिसके लिए उसका स्थापन और विकास किया गया है। हमारे समय की बड़ी समस्या पर्यावरण प्रदूषण और पारिस्थितिकीय असंतुलन इस तकनीकी के इस्तेमाल का ही परिणाम है। इसके कारण पूरे जीवन के ही नष्ट होने का ख़तरा बढ़ता जा रहा है। बेरी कॉमनर का यह कथन सर्वथा संगत लगता है कि 'नयी तकनीकी एक आर्थिक सफलता सिर्फ़ इसी कारण से है कि वह एक पारिस्थितिकीय विफलता है।'[15]

एरिक फ्राम जैसे मनोविदों की राय में इस तकनीकी पर आश्रित उत्पादन-व्यवस्था में मनुष्य स्वयं एक वस्तु में रूपांतरित हो जाता है और तब यह तकनीकी उसके साथ वैसा ही व्यवहार भी करती है : 'आज के औद्योगिक समाज में मनुष्य की निष्क्रियता उसकी प्रधान चारित्रिकता और व्याधि है ... निष्क्रियता के कारण वह अपने को शक्तिहीन, अकेला और उद्विग्न महसूस करता है।'[16] एरिक फ्रॉम इसे 'एलियेनेशन सिंड्रॉम' कहते हैं। स्मरणीय है कि इस बेगानेपन का ज़िक्र स्वयं मार्क्स ने भी किया है, जिसके अनुसार इस व्यवस्था में मनुष्य अपने काम से, अपने काम के उत्पाद से, अन्य मनुष्यों से तथा सामान्यत: मानव-जाति से बेगानगी महसूस करने लगता है।

यहाँ इस बात की ओर भी ध्यान दिया जाना आवश्यक है कि इस तकनीकी की एक स्पष्ट राजनीतिक भूमिका भी है क्योंकि इस पर केवल प्रभु वर्ग का ही नियंत्रण हो सकता है। कभी यदि सामाजिक नियंत्रण की बात होती भी है तो उसके ऐसे रूप विकसित होते हैं, जो अपने चरित्र में सहभागिता-मूलक नहीं, बल्कि 'अथॉरिटेरियन' होते हैं क्योंकि उसके बिना इस तकनीकी का प्रबंधन सम्भव नहीं है। सम्भवत: यही कारण है कि समाजवादी कही जाने वाली व्यवस्थाओं में केंद्रीकृत प्रबंधन-शैली का ही विकास हुआ और लेनिन जैसे क्रांतिकारी को भी अमेरिकी पूँजीवादी प्रबंधविज्ञानी फ्रेडरिक विनस्लो टेलर के साथ सुर मिला कर मानना पड़ा कि मज़दूर की हैसियत एक बड़ी मशीन के छोटे पुर्जे, महज़ कॉग इन दि व्हील की है। दरअसल, यह सवाल राजनीतिक विचारधारा का उतना नहीं था, जितना तकनीकी के अपने चरित्र का है।[17]

इसलिए, जब हम किसी तकनीकी को चुनते हैं तो इस बात पर विचार किया जाना भी ज़रूरी है कि केवल आर्थिक ही नहीं, उसके सामाजिक-राजनीतिक और सांस्कृतिक परिणाम भी क्या हो सकते हैं। अमेरिकी राष्ट्रपति वुडरो विल्सन ने यह चेतावनी दी थी कि ऐसी तकनीकी वाले समाज में लोकतंत्र भी 'विशेषज्ञों का शासन' हो जाता है। 'ब्रिटिश सोसाइटी फ़ॉर सोशल रेस्पांसबिलिटी ऑफ़ साइंस' की एक रिपोर्ट में कहा गया है कि आज की परिस्थिति में वैज्ञानिक और तकनीकी ज्ञान ही सत्ता का स्रोत हो जाता है। उस पर विशाल संस्थाएँ ही नियंत्रण कर सकती हैं और इस प्रक्रिया में वह शक्तिशाली को अधिक शक्तिशाली और कमज़ोर को और कमज़ोर करता जाता है। दरअसल, आर्थिक शक्तियों के नियंत्रण को प्रकारांतर से अधिनायकवाद का नया रूप कहा जा सकता है। राल्फ़ लैप के अनुसार तो 'लोकतंत्र वैज्ञानिक क्रांति के इस दौर में सबसे कड़ी परीक्षा दे रहा है क्योंकि ऐसे में देश अपने कल्याण के लिए वैज्ञानिक और तकनीकी अभिजनों के एक अत्यंत 'छोटे समूह पर निर्भर हो जाता है।'[18] कार्ल

---

[14] डेविड डिक्सन (1978) : 161.
[15] बेरी कॉमनर (1971) : 151.
[16] एरिक फ्रॉम (1968) : 40-41.
[17] नंदकिशोर आचार्य (2018) : 89.
[18] डेविड डिक्सन (1978), वही : 26-27.

फ्रेडरिक और ब्रजेजिंस्की जैसे अध्येताओं का यह निष्कर्ष इसलिए संगत ही लगता है कि यह तकनीकी अपने एकाधिकारवादी चरित्र के कारण राजनीतिक निरंकुशता के लिए भी आवश्यक साधन और वातावरण मुहैया करवा देती है।[19] यह भी ध्यान देने की बात है कि ऐसे में लोकतांत्रिक चुनाव भी किन्हीं वैचारिक आग्रहों पर नहीं बल्कि प्रबंध-कौशल के आधार पर लेने लगते हैं। हम बेहतर प्रबंधकों को चुनते हैं। अधिनायकवादी मानसिकता के लिए यह सबसे बेहतर खाद है।[20]

यह तकनीकी ग़रीब और अविकसित देशों पर बड़े और विकसित देशों का आर्थिक ही नहीं, राजनीतिक नियंत्रण बढ़ाने में भी सहयोग करती है। इसके लिए जिस विशेषज्ञता और पूँजी की आवश्यकता होती है, वह अविकसित या विकासशील देशों के पास नहीं होती। यदि हर चीज़ बाज़ार की वस्तु है तो इस बात की अनदेखी नहीं की जा सकती कि विकसित और शक्तिशाली देश अपनी तकनीकी विशेषज्ञता और पूँजी-निवेश की क्या क़ीमत वसूल करते हैं।

टी. डास सैंटोन के अध्ययन का निष्कर्ष है कि 'शक्तिशाली देश तकनीकी, वाणिज्य, पूँजी तथा सामाजिक-राजनीतिक दृष्टि से निर्भर देशों पर अपना प्रभुत्व जमाए रखते हैं— इस प्रभुत्व का स्वरूप विशिष्ट ऐतिहासिक समय के अनुसार अलग-अलग होता है। प्रभु देश उनका शोषण कर सकते हैं और स्थानीय रूप से उत्पन्न अतिरिक्त अंश को निचोड़ सकते हैं।' इसका परिणाम, जैसा पाल बरन बताते हैं, अवरुद्ध विकास के रूप में होता है और आंद्रे गुंदर फ्रेंक का विचार है कि यह अवरुद्ध विकास 'निर्भरता संलक्षण (सिंड्रॉम)' का एक स्थायी चरित्र बना रह सकता है। श्यामा चरण दुबे इस निर्भरता के कुछ आनुषंगिक परिणामों, यथा बौद्धिक उपनिवेशवाद, अप्रासंगिक शिक्षा आदि का उल्लेख करते हुए निष्कर्ष देते हैं कि 'निर्भरता सिंड्रॉम' अल्पविकसित देशों को समृद्ध और शक्तिसम्पन्न देशों की घरेलू और अंतर्राष्ट्रीय नीतियों से बाँध देता है और उनके स्वाधीन तथा देशज विकास की सम्भावना को उलट-पुलट देता है।'[21]

वर्तमान उत्पादन-प्रक्रिया का एक और हिंसक आयाम विस्थापन है, जो आधुनिक विकास की ज़रूरतों के नाम पर किया जाता है। तर्क दिया जाता है कि विकास की कुछ क़ीमत तो देनी ही होती है। तब सवाल यह उठता है कि क़ीमत दे कौन रहा है! कोई भी देश कई प्रकार के समुदायों का संघ होता है और यदि किसी भी समुदाय के हितों की क़ीमत पर अन्य को लाभ पहुँचाया जाता है तो यह एक प्रकार का 'आंतरिक उपनिवेशीकरण' ही माना जाएगा, जो पूरे विश्व में एक विकराल समस्या का रूप ले चुका है। हमें एरिका आइरीन जैसे विश्लेषकों की इस बात पर ग़ौर करने की ज़रूरत है कि संयुक्त राष्ट्र संघ जैसी संस्थाओं का भविष्य भी इस 'आंतरिक

डेविड कोरटेन ने ... भलीभाँति सिद्ध किया है कि बाहर से अलग दिखने वाली बहुराष्ट्रीय कम्पनियों और राष्ट्रीय कम्पनियों के आपसी संबंध जुड़ कर इस प्रकार घनिष्ठ हो चले हैं कि अब उन्हें वास्तविक अर्थ में प्रतिस्पर्धा कहना संगत नहीं होगा। ... कोरटेन ... कारगिल और आर्चर डेनियल्स मिडलैंड— की संयुक्त उद्यमिता का उदाहरण देते हैं, जिसका परिणाम यह निकला है कि पहले खाने पर खर्च होने वाले प्रत्येक डॉलर का 41 प्रतिशत जिस किसान को मिलता था, अब उसे केवल नौ प्रतिशत मिल पा रहा है, जबकि उपभोक्ता को पहले से अधिक चुकाना पड़ रहा है।

[19] वही : 29.
[20] नंदकिशोर आचार्य (2018), वही : 90.
[21] श्यामा चरण दुबे (1996) : 77-78.

शूमाकर, रोबिन क्लार्क, ममफ़ोर्ड, इवान इलिच और एरिक फ्रॉम जैसे विचारकों, वैज्ञानिकों और अर्थशास्त्रियों ने 'मध्यवर्ती' या 'समुचित' या 'कोमल' तकनीकी की बात की है। कई लोगों का ध्यान 'छोटी मशीनों' की ओर गया है। जॉन रोड जैविक तकनीकी— बायो टेक्नोलॅजी— का प्रस्ताव करते हैं। रोड का मानना है कि इस तकनीकी को समाज के निम्नतम स्तर पर भी प्रभावी होना चाहिए। इसमें केवल आर्थिक ही नहीं सामाजिक और पारिस्थितिकीय दृष्टि से भी विचार किया जाना चाहिए। पीटर वॉन ड्रेसर, कॉलिन मूरक्राफ़्ट आदि के सुझाव भी इसी तरह के हैं।

उपनिवेशीकरण' से मुक्ति पर निर्भर करता है।

उल्लेखनीय है कि कोई भी आर्थिक मुआवज़ा उस तरह से आय का स्थायी स्रोत नहीं हो सकता, जैसा भूमि होती है। विस्थापन का एक परिणाम यह भी होता रहा है कि अपने प्राकृतिक निवास— हैबिटेट— से हटा दिये जाने के कारण संबंधित समुदाय का सामुदायिक-सांस्कृतिक जीवन भी समाप्त हो जाता है। बहुत-से आदिवासी समूह अपने प्राकृतिक निवास और परिवेश को ही अपने उपास्य के रूप में मानते और उसकी पूजा करते हैं। उनका विस्थापन प्रकारांतर से अपने 'धार्मिक हैबिटेट' से वंचित कर दिया जाना है, जिसके कारण संबंधित समुदाय अपनी धार्मिक परम्पराओं, अनुष्ठानों और विश्वासों से भी वंचित हो जाता है।[22] ऐसे विस्थापित समुदाय, दरअसल, पर्यावरणीय शरणार्थी हो जाते हैं और धीरे-धीरे अपनी भाषा, साहित्य और धार्मिक-सांस्कृतिक विश्वासों को खो देते हैं क्योंकि एक समुदाय के रूप में एक प्राकृतिक परिवेश के बिना उनका बने रहना सम्भव नहीं होता।

आधुनिक तकनीकी अर्थात् मशीनीकरण के प्रति गाँधी के विरोध को इन सब संदर्भों में समझे जाने की ज़रूरत है। उपर्युक्त विश्लेषण गाँधी के इस कथन की पर्याप्त पुष्टि करता है कि 'मशीन साँप की बाँबी की तरह है जिसमें एक नहीं सौ साँप हैं। एक के बाद दूसरा लगा ही रहता है।'[23]

इसीलिए, असली द्वंद्व तकनीकी का है। एक दृष्टि है जो व्यक्ति की गरिमा, स्वतंत्रता, समानता और नैतिक उत्थान को महत्त्व देती है, और दूसरी उपयोगपरक दृष्टि है जो केवल भौतिक सुविधाओं की बढ़ोतरी को लक्ष्य मानती है— भले ही इसके लिए सृष्टि की सम्पूर्ण सम्पदा का इस तरह दोहन करना पड़े कि भावी मानवता के लिए कुछ न बचे। इस पृष्ठभूमि और अहिंसा की कसौटी के आधार पर ही हम गाँधी के मशीनीकरण संबंधी विचारों और स्वेदशी के आग्रह को समझ सकते हैं। सबसे पहली बात तो यही कि विशाल पैमाने के उत्पादन आधुनिक तकनीकी की स्वाभाविक अनिवार्यता हैं और गाँधी उसे विश्व-संकट का मूल कारण मानते हैं। उनकी सम्मति में विशाल पैमाने के उत्पादन का कारण लोगों का अपनी ज़रूरतों को अंधाधुंध बढ़ाते जाना है।[24] वे कहते हैं : 'मैं पक्के तौर पर अपनी राय ज़ाहिर करना चाहूँगा कि विशाल पैमाने का उत्पादन विश्व-संकट के लिए उत्तरदायी है। एक क्षण के लिए अगर मान भी लें कि मशीनें मानव जाति की सभी आवश्यकताओं को पूरा कर सकती हैं तो भी इनका कार्य उत्पादन के विशिष्ट क्षेत्रों पर ही केंद्रित होगा और आप को वितरण का नियमन करने के लिए एक जटिल व्यवस्था अलग से करनी पड़ेगी। इसके विपरीत, जिस क्षेत्र में जिस वस्तु की आवश्यकता है, अगर वहीं उसका उत्पादन और वितरण दोनों किये जाएँ तो इनका नियमन स्वयमेव हो जाता है और उसमें धोखाधड़ी की गुंजाइश कम रहती है तथा सट्टेबाजी की तो बिल्कुल नहीं।'[25] मशीनीकरण के

[22] नंदकिशोर आचार्य (2008) : 34.
[23] राष्ट्रीय गाँधी संग्रहालय (2010) : 209.
[24] *यंग इंडिया,* 8 दिसम्बर, 1927 : 414.
[25] *हरिजन,* 2 नवम्बर, 1934 : 301-302.

विरोध के पीछे गाँधी का एक प्रभावी तर्क यह भी था कि उन की रामराज्य की कल्पना आर्थिक असमानता के रहते साकार नहीं हो सकती थी और उनका अनुभव मशीनों को इस आर्थिक असमानता का मूल कारण मानता था। दक्षिण अफ्रीका के अपने अनुभव को बताते हुए वे कहते हैं : 'उसी समय मेरे मन में इस विचार का उदय हुआ था कि लाखों-करोड़ों लोगों का दमन और शोषण करने के लिए मशीन एक ऐसा दैत्य है, जिसका कोई जवाब नहीं है। यदि समाज में सभी लोगों को बराबरी का दर्जा दिया जाना है तो मानव-अर्थव्यवस्था में मशीन का कोई स्थान नहीं हो सकता। मेरा विश्वास है कि मशीन ने आदमी की हैसियत में कोई इज़ाफ़ा नहीं किया है और जब तक हम इसे इसके उचित स्थान पर नहीं बिठाएँगे तब तक यह दुनिया की सेवा नहीं करेगी बल्कि उसे विघटित भी कर देगी।'[26]

'मशीन को उसके उचित स्थान पर बिठाना'— यह है आधुनिक तकनीकी और मशीनीकरण के प्रति गाँधी की नीति। इसलिए वे ऐसे यंत्रों को तो स्वीकार कर लेते हैं जो मनुष्य को हाड़तोड़ श्रम से बचाते हैं, लेकिन मनुष्य और प्रकृति के प्रति हिंसक नहीं होते तथा उसे किसी तरह के 'तकनीकी नियतिवाद' का शिकार नहीं बनाते। वह ... मानव-श्रम की विरोधी है, जिससे बेरोज़गारों और अल्प-रोज़गारों की सेना बढ़ती ही जाती है। मशीन ऐसा इसलिए नहीं करती कि यह वांछनीय है, बल्कि इसलिए कि यही उसका नियम है।'

'मशीन को उसके उचित स्थान पर बिठाना'— यह है आधुनिक तकनीकी और मशीनीकरण के प्रति गाँधी की नीति। इसलिए वे ऐसे यंत्रों को तो स्वीकार कर लेते हैं जो मनुष्य को हाड़तोड़ श्रम से तो बचाते हैं, लेकिन मनुष्य और प्रकृति के प्रति हिंसक नहीं होते तथा उसे किसी तरह के 'तकनीकी नियतिवाद' का शिकार नहीं बनाते। यह विस्मयकारी है कि इस नियतिवाद को गाँधी ने आधुनिक समाजशास्त्रियों से बहुत पहले समझ लिया था। वे कहते हैं : 'उसके ऊपर अपनी ही इच्छा अथवा प्रतिभा सवार मालूम होते हैं। वह मानव-श्रम की विरोधी है ... जिससे बेरोज़गारों और अल्प-रोज़गारों की सेना बढ़ती ही जाती है। मशीन ऐसा इसलिए नहीं करती कि यह वांछनीय है, बल्कि इसलिए कि यही उसका नियम है।'[27]

लेकिन तब गाँधी किस तकनीकी का सुझाव देते हैं क्योंकि हर आर्थिक-सामाजिक व्यवस्था की अपनी तकनीकी होना तो अपरिहार्य है? गाँधी इसके लिए 'स्वदेशी' का रास्ता सुझाते हैं। स्वेदशी का अर्थ केवल देश में हुआ उत्पादन नहीं बल्कि अपने संसाधनों और तकनीकी से किया गया उत्पादन है। स्वेदशी का तात्पर्य है स्थानीय ज़रूरतों के लिए स्थानीय संसाधनों और स्थानीय तकनीकी से किया गया उत्पादन। स्वदेशी से गाँधी का तात्पर्य एक ऐसी विकेंद्रीकृत उत्पादन-व्यवस्था से है, जिसके प्राकृतिक संसाधन तथा तकनीकी भी मूलत: आसपास पर आधारित तथा उससे संबंधित हों। जिसे वहीं तैयार किया, सुधारा और विकसित किया जा सके। चरखा गाँधी के लिए इस स्वदेशी तकनीकी का ही प्रतीक है : 'मैंने चरखे की तुलना सूर्य के साथ की है तथा गाँव के अन्य शिल्पों को सौरमण्डल के विभिन्न नक्षत्रों के समान माना है। सूर्य सभी नक्षत्रों को प्रकाश और ऊष्मा देता है और उन्हें जीवित रखता है। सूर्य के बिना नक्षत्रों का अस्तित्व नहीं है।'[28] लेकिन, चरखे के उद्योग का भी वे केंद्रीकरण नहीं चाहते

[26] वही, 25 अगस्त, 1946 : 281.
[27] वही.
[28] वही, 31 मार्च, 1946 : 58.

क्योंकि ऐसा करना स्वेदशी की वास्तविक भावना के अनुकूल नहीं होगा : 'हम किसी एक स्थान पर बड़े पैमाने पर उत्पादन करके चरखे का सार्वभौमीकरण करना नहीं चाहते। हमारा आदर्श यह है कि जिस बस्ती में कताई करने वाले रहते हों वहीं चरखे और उसकी सहायक वस्तुओं का निर्माण होना चाहिए। इसी में चरखे का मूल्य निहित है। चरखे में यदि कोई ख़राबी आ जाए तो वह वहीं ठीक हो जानी चाहिए और कताई करने वालों को इसके लिए प्रशिक्षित करना चाहिए।'[29] स्पष्ट है कि यही बात अन्य स्थानीय उद्योगों से संबंधित तकनीकी के बारे में लागू की जानी चाहिए। गाँधी का तात्पर्य यह नहीं है कि स्वदेशी की भावना के अंतर्गत नये उपकरणों आदि का आविष्कार नहीं हो सकता। लेकिन, अहिंसा की बुनियादी प्रतिज्ञा पर खरे उतरने पर ही उन्हें स्वीकार किया जा सकेगा। इसीलिए वे उदाहरण देकर कहते हैं : 'कोई बेहतर क़िस्म का हल विकसित हो सके तो यह अच्छी बात है ... मैं कुटीर उद्योगों की मशीनों में हर सुधार का स्वागत करता हूँ ... मैं सब की भलाई के लिए किये जाने वाले हर आविष्कार का स्वागत करूँगा। लेकिन एक आविष्कार और दूसरे आविष्कार में फ़र्क़ है। ... लोकोपयोगी सेवाओं के लिए इस्तेमाल की जाने वाली भारी मशीनें, जिन का मानव-श्रम के रूप में कोई विकल्प सम्भव नहीं है, निश्चित रूप से अनिवार्य हैं, लेकिन उन पर राज्य का स्वामित्व होना चाहिए और उनका प्रयोग लोगों के हित में किया जाना चाहिए।'[30]

इस योजना में कुछ बहुत ही आवश्यक हो गये बड़े उद्योगों को तो स्वीकृति है, पर किसी भी समाज की अर्थ-व्यवस्था का मूल आधार स्वदेशी तकनीकी और संसाधनों पर आधारित ग्रामोद्योग ही हो सकते हैं। बड़े उद्योग उनके सहायक की भूमिका में ही रहेंगे : 'मेरी कल्पना के अनुसार गाँव की दस्तकारियों के साथ-साथ बिजली, पोत-निर्माण, लोहे के कारख़ाने, मशीन बनाने के कारख़ाने आदि भी रहेंगे। किंतु निर्भरता का क्रम उलट जाएगा। अभी तक उद्योगीकरण की योजनाएँ इस प्रकार बनाई गयी हैं कि वे गाँवों और गाँवों की दस्तकारियों को नष्ट कर दें। भारत के भावी राज्य में देश के उद्योग गाँवों और उनकी दस्तकारियों के सहायक की भूमिका निभाएँगे।'[31] यह है— 'मशीन को उनके उचित स्थान पर बिठाना'। स्पष्ट है कि यह स्वदेशी तकनीकी ही वास्तविक आर्थिक विकेंद्रीकरण और इस प्रकार प्रकारांतर से सम्भव आर्थिक समानता का आधार हो सकती है, तथा, साथ ही, वर्तमान केंद्रीकरण से उत्पन्न आर्थिक-सामाजिक कई समस्याओं का समाधान करती हुई ग्रामोद्योगों के माध्यम से बहुसंख्यक ग्रामीण जनता में आत्मविश्वास लौटा कर उसके भौतिक तथा नैतिक उत्कर्ष का माध्यम भी— अभ्युदय तथा नि:श्रेयस दोनों का माध्यम। गाँधी का यह मंतव्य बिल्कुल व्यावहारिक है : 'जब उत्पादन और उपभोग दोनों स्थानीकृत होते हैं तो उत्पादन में अंधाधुंध और किसी भी क़ीमत पर वृद्धि करने का लालच समाप्त हो जाता है। तब हमारे वर्तमान अर्थतंत्र की सभी अनंत कठिनाइयाँ और समस्याएँ समाप्त हो जाएँगी ... तब मुट्ठी भर लोगों के पास वस्तुओं के बेशुमार संचय और शेष लोगों को उसके बावजूद अभाव की स्थिति पैदा नहीं होगी।'[32] और इसमें यह भी जोड़ा जा सकता है कि ग़रीबी में पिसने के कारण हो रहा नैतिक अध:पतन रुक सकेगा और सभी को आध्यात्मिक उन्नति के समान अवसर उपलब्ध हो सकेंगे।[33]

इसके अलावा, गाँधी जिस स्वेदशी तकनीकी और ग्रामोद्योगों की बात करते हैं उनमें न केवल समाज की आवश्यकताओं को पूरा करने योग्य उत्पादन का सामर्थ्य होगा बल्कि वह सभी लोगों को रोज़गार दे सकेगी। प्रसिद्ध अर्थशास्त्री ई.एफ़. शूमाकर का विश्लेषण बताता है कि आधुनिक तकनीक

[29] वही, 20 अक्तूबर, 1946 : 363-64.
[30] *यंग इंडिया,* 13 अक्तूबर, 1921 : 325.
[31] *हरिजन,* 27 जनवरी, 1940 : 428.
[32] वही, 2 नवम्बर, 1934 : 302.
[33] वही, 17 नवम्बर, 1946 : 404.

पर आश्रित उत्पादन–प्रणाली में 'कुल जनसंख्या के छठे भाग से भी कम जनसंख्या वास्तविक उत्पादन में लगी हुई है' तथा 'कुल सामाजिक समय' का लगभग साढ़े तीन प्रतिशत हिस्सा ही वास्तविक उत्पादन में ख़र्च होता है।'[34] शूमाकर के विश्लेषण के बाद से रोज़गार के अवसरों में कमी आते जाने के कारण यह संख्या और भी कम हो जानी चाहिए। आधुनिक तकनीकी के कारण ऐसा बड़ा वर्ग पैदा हो गया जिसका वास्तविक उत्पादन से कोई संबंध नहीं है। शूमाकर के अनुसार यदि तकनीकी को कुछ कम आधुनिक बना दिया जाए तो ऐसे लोगों की कोई ज़रूरत नहीं रहती। कार्ल मार्क्स की इस बात से भी शूमाकर की स्थापना का ही समर्थन होता है : वे उत्पादन को उपयोगी वस्तुओं तक ही सीमित रखना चाहते हैं, लेकिन यह भूल जाते हैं कि बहुत अधिक मात्रा में उपयोगी वस्तुओं के उत्पादन का नतीजा अनुपयोगी लोगों की संख्या में बहुत अधिक वृद्धि ही होता है।'[35] यह नहीं भूलना चाहिए कि ब्रिटिश शासन से पूर्व स्वदेशी तकनीकी और विकेंद्रीकृत उत्पादन–प्रणाली से बना भारतीय कपड़ा न केवल भारत की आवश्यकताएँ पूरी करता था, बल्कि विदेशी बाज़ार के लिए भी उसकी आपूर्ति होती थी। कुल विश्व–बाज़ार में भारत और चीन, केवल दो देशों, की हिस्सेदारी दो–तिहाई थी। यदि हम गाँधी की भाषा में 'ग्रामवासी रूपी सजीव मशीनों को पूरा काम दे सकें तो उत्पादन के अभाव की शिकायत नहीं रह सकती। ग़रीबी को विशाल पैमाने के उत्पादन से नहीं बल्कि ग़रीबों को उत्पादन–कार्यों में लगा कर ही मिटाया जा सकता है।' गाँधी लिखते हैं : 'मेरे विचार में भारत, और भारत ही क्यों सारी दुनिया, का आर्थिक गठन ऐसा होना चाहिए कि उसमें किसी को रोटी–कपड़े की तंगी न रहे। दूसरे शब्दों में, प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन निर्वाह के लिए पर्याप्त काम उपलब्ध होना चाहिए। यह आदर्श सर्वज्ञ तभी प्राप्त किया जा सकता है जब जीवन की बुनियादी आवश्यकताओं के उत्पादन के साधन आम जनता के नियंत्रण में हो।'[36] अपने आसपास के संसाधन और उन्हीं को ध्यान में रख कर स्थानीय स्तर पर विकसित तकनीक के माध्यम से ही उत्पादन के साधनों पर आम लोगों का वास्तविक नियंत्रण रह सकता है। शूमाकर, रोबिन क्लार्क, ममफ़ोर्ड, इवान इलिच और एरिक फ्रॉम जैसे विचारकों, वैज्ञानिकों और अर्थशास्त्रियों ने 'मध्यवर्ती' या 'समुचित' या 'कोमल' तकनीकी की बात की है। कई लोगों का ध्यान 'छोटी मशीनों' की ओर गया है। जॉन रोड जैविक तकनीकी— बायोटेक्नोलॉजी— का प्रस्ताव करते हैं। रोड का मानना है कि इस तकनीकी को समाज के निम्नतम स्तर पर भी प्रभावी होना चाहिए। इसमें केवल आर्थिक ही नहीं सामाजिक और पारिस्थितिकीय दृष्टि से भी विचार किया जाना चाहिए। पीटर वॉन ड्रेसर, कॉलिन मूरक्राफ़्ट आदि के सुझाव भी इसी तरह के हैं। ईथान मिलर अहिंसक आर्थिकी को 'एकात्म अर्थशास्त्र' की संज्ञा देते हैं। उनके अनुसार व्यापकतर अर्थ में अर्थशास्त्र का तात्पर्य यह है कि हम मानव–प्राणी सामूहिक रूप से पृथ्वी तथा हमारे पारस्परिक संबंधों के परिप्रेक्ष्य में अपनी आजीविका कैसे अर्जित करते हैं। इसी तरह फ़िनलैंड के समाज–चिंतक लैस्से नोर्डलुंड का मानना है कि वास्तविक कुशलता सादे–सरल तकनीकी उपकरणों से ही मिल सकती है, जैसे पुराने ढंग का चरखा या काठ–निर्मित अन्य उपकरण, जिनमें लोहा जितना कम हो उतना ही बेहतर है।

गाँधी के विचारों के आधार पर जे.सी. कुमारप्पा स्थायी समाज–व्यवस्था के लिए अहिंसा पर आधारित आर्थिक प्रक्रिया का विकास करने वाले प्रमुख अर्थशास्त्री हैं। उनका विश्लेषण बताता है कि अस्थायी या क्षणभंगुर अर्थ–व्यवस्था उन संसाधनों पर टिकी होती है, जो इस्तेमाल करने पर धीरे–धीरे कम होते जाते हैं। दूसरी ओर, प्रकृति का चक्र ऐसा है जिसमें अधिकांश चीज़ें उस चक्र की प्रक्रिया में स्वतः नष्ट होती, पुनः जन्म लेती और विकसित होती हैं। कुमारप्पा प्रकृति की इस व्यवस्था,

---

[34] ई.एफ़. शूमाकर, वही : 102–103.
[35] वही.
[36] *यंग इंडिया,* 15 नवम्बर, 1928 : 381.

नंदकिशोर आचार्य

लेबोविट्ज़ जैसे सोवियतोत्तर मार्क्सवादी भी उत्पादन के साधनों पर सामाजिक नियंत्रण का प्रस्ताव करते हैं जो राज्य के माध्यम से नहीं बल्कि स्वयं श्रमिकों द्वारा संगठित उत्पादन-प्रणाली का प्रस्ताव है। मेजारोस इस प्रकार की प्रणाली को सहकारी उत्पादक वर्ग— एसोसिएटेड प्रोड्यूसर्स— की संज्ञा देते हैं और गाँधी की तरह मानते हैं कि समाजवादी व्यवस्था का विकास ऊपर से नहीं, नीचे से होना चाहिए। क्या *कम्युनिस्ट मेनीफ़ेस्टो* का *ऑल पॉवर टु दि कम्यून्स* का आदर्श भी लगभग वैसा ही नहीं था, जिसकी भरपूर अनदेखी कथित समाजवादी व्यवस्थाओं द्वारा की गयी है।

इस चक्र को स्थायी कहते हैं। इस पर्यावरण चक्र को बनाए रखने, उसका संरक्षण-संवर्धन करने की व्यवस्था ही स्थायी व्यवस्था है और यह अहिंसक अर्थ रचना का आधार है।[37]

दरअसल, स्वदेशी, स्वावलम्बी व्यक्ति और गाँव तथा आर्थिक विकेंद्रीकरण कोई अलग-अलग अवधारणाएँ नहीं हैं। इस तकनीकी के आधार पर जो आर्थिक संरचना विकसित होगी वह व्यावहारिक रूप से आर्थिक स्तर पर जीवन-क्षम होने के साथ-साथ पारस्परिक प्रेम और सहकार तथा अहिंसा के सिद्धांत से भी अनुप्राणित होगी। गाँधी के शब्दों में, 'स्वदेशी ही वह एकमात्र सिद्धांत है जो विनम्रता और प्रेम के नियम के अनुरूप है।' 'स्वदेशी' से प्रेरित 'स्वावलम्बी ग्राम' इसी कारण न तो किसी प्रकार की मुनाफ़ाखोरी, शोषण या अनैतिक व्यापार में स्वयं रुचि लेते हैं और न अपने को उसका शिकार होने देते हैं। कह सकते हैं कि स्वदेशी न केवल अपने से जुड़े लोगों में प्रेम और नैतिक गुणों एवं स्वेच्छापूर्व अल्प-उपभोग की भावना का विकास करता है बल्कि प्रकारांतर से आधुनिक तकनीकी से प्रसूत अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक साम्राज्यवाद के सभी ज्ञात-अज्ञात रूपों के बरअक्स एक सत्याग्रह हो जाता है।[38]

इस अर्थ में गाँधी द्वारा प्रस्तावित 'स्वदेशी' उस व्यवस्था के विकल्प का बीज है, जिसके कारण मानव जाति अपने अस्तित्व की जड़ों पर ही कुठाराघात करती जा रही है। 'स्वदेशी से प्रेरित उत्पादन-शक्तियों के आधार पर ही ऐसे उत्पादन-संबंध विकसित होंगे जो हमें एक 'न्यायपूर्ण' अधिरचना की ओर ले जा सकेंगे। गाँधी की शब्दावली का प्रयोग करें तो यह 'लोभ की जगह प्रेम' को क़ायम करना है— प्रेम जो अस्तित्व का वास्तविक नियम है। टैरी ईगलटन प्रेम के आदर्श की रोशनी में मार्क्स की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि अन्य के माध्यम से ही हम अपने को खोज पाते हैं। इसका तात्पर्य वैयक्तिक स्वातंत्र्य का हनन नहीं, बल्कि उसे और समृद्ध करना है। इससे अधिक सुंदर नीतिशास्त्र की कल्पना मुमकिन नहीं।[39] गाँधी कह चुके हैं, 'स्वदेशी ही वह एकमात्र सिद्धांत है जो विनम्रता और प्रेम के नियम के अनुरूप हैं।'[40]

अर्थशास्त्र का संबंध केवल उत्पादन की पद्धति से ही नहीं, बल्कि उत्पादन के साधनों के स्वामित्व और उत्पादन से होने वाले लाभ के वितरण से भी है। इस संबंध में कार्ल मार्क्स की यह स्थापना बहुत महत्त्वपूर्ण है कि उत्पादन-शक्तियों के आधार पर ही उत्पादन-संबंधों का निर्धारण होता है। इसका अर्थ यह है कि तकनीकी स्वयं ही अपने स्वामित्व और लाभ के वितरण के बारे में दिशा-संकेत दे देती है।

---

[37] नंदकिशोर आचार्य (सं) (2014) : 173-76, 168-69, 216-17.
[38] नंदकिशोर आचार्य (2012) : 55.
[39] टैरी ईगलटन (2011) : 86.
[40] *स्पीचेज़ ऐंड राइटिंग्ज़ ऑफ़ गाँधी* : 336-44.

जब हम विशाल पैमाने के उत्पादन के लिए केंद्रीकरण के स्वभाव वाली तकनीकी चुनते हैं तो स्वाभाविक ही स्वामित्व का रूप भी केंद्रीकृत हो जाता है— चाहे वह पूँजीवादी प्रकार का निजी स्वामित्व हो या समाजवादी प्रकार का राजकीय स्वामित्व।

आर्थिक प्रक्रिया में हिंसा का एक स्वरूप शोषण का है, जिसका सीधा तात्पर्य है किसी को उसके न्यायपूर्ण हिस्से से वंचित कर देना। किसी भी वस्तु के उत्पादन में जिन संसाधनों की आवश्यकता होती है, उनमें श्रम अत्यंत महत्त्वपूर्ण है क्योंकि मानवीय श्रम के बिना कोई उत्पादन सम्भव नहीं होता। इसलिए रिकॉर्डो की यह धारणा बिल्कुल समीचीन है कि श्रम भी पूँजी का एक प्रकार है। इसका सीधा प्रतिफलन यह होता है लाभ पर जितना अधिकार पूँजी का है, उतना ही श्रम का भी होना चाहिए। श्रम के माध्यम से ही 'उपयोगिता मूल्य' का 'विनिमय मूल्य' में रूपांतरण सम्भव होता है। सरल शब्दों में, किसी भी उत्पाद की बाज़ार में क़ीमत संसाधनों की लागत के साथ उत्पादन-प्रक्रिया में लगे श्रम की मात्रा के अनुसार होती है। लेकिन, यहाँ रिकॉर्डो मुनाफ़े में श्रम की वैसी हिस्सेदारी स्वीकार नहीं करते, जैसी पूँजी को मिलती है। उसका विचार है कि श्रमिक को उतना ही मिलना चाहिए कि वह श्रम के योग्य रह सके। शेष लाभ पर पूँजीपति का अधिकार होना चाहिए। उसका तर्क यह है कि पूँजीपति उस लाभ को उत्पादन के लिए पुनर्निदेश कर पूँजी में लगातार वृद्धि करता रहेगा, जो अर्थ-व्यवस्था की बेहतरी के लिए अधिक मुफ़ीद है। रिकॉर्डो तो यहाँ तक मानते हैं कि कुछ सीमा तक समाज में बेरोज़गारी भी रहनी चाहिए क्योंकि यदि पूर्ण रोज़गारी होगी तो श्रमिक वर्ग अपनी शर्तें मनवाने के लिए अधिक समर्थ हो जाएगा।

'माँग' और 'आपूर्ति' के सिद्धांतकार अल्फ्रेड मार्शल को भी यह मानना पड़ा था कि 'आर्थिक संगठन का उद्देश्य ज़रूरतों की पूर्ति करना ही नहीं, नयी ज़रूरतों की सृष्टि करना भी है।' मार्शल के ही शब्दों में, 'यद्यपि अपने विकास के प्रारम्भिक चरण में मनुष्य की ज़रूरतें ही उसे क्रियाशील करती हैं, किंतु अनंतर हर नया क़दम नयी ज़रूरतों के लिए नयी क्रियाशीलता के बजाय ऐसी क्रियाशीलता के रूप में सामने आता है जो नयी ज़रूरतों को पैदा करती है।'

किसी के न्यायपूर्ण अधिकार को मान्यता न देना एक प्रकार की हिंसा है और किसी अन्य के श्रम के फल को स्वयं हड़प लेना एक प्रकार की चोरी या लूट — फिर चाहे उसका स्वरूप क़ानून सम्मत भी क्यों न हो। यहाँ इस बात की ओर ग़ौर किया जाना भी ज़रूरी लगता है कि श्रम के अलावा अन्य संसाधन भी किसी एक व्यक्ति के नहीं हैं। जो कच्चा माल चाहिए, वह पूरे समाज का है। जिस तकनीकी ज्ञान के द्वारा उत्पादन सम्भव होता है, वह भी पूरे समाज के विकास की ऐतिहासिक प्रक्रिया का फल है। यहाँ तक कि जो पूँजी-निवेश किया जाता है, वह भी बैंकों, राजकीय क़र्ज़ या सहायता, शेयरों आदि के माध्यम से प्राप्त होता है, अत: उस पर भी किसी का निजी अधिकार नैतिक आधार पर मान्य नहीं हो सकता। कहा जा सकता है कि एक पूँजीपति अपने प्रबंधन कौशल के आधार पर इन सब का संयोजन कर उत्पादन सम्भव करता है। लेकिन, तब उसे उस प्रबंधन कौशल के लिए उसी प्रकार पारिश्रमिक या मानदेय दिया जाना संगत होगा, जिस प्रकार कच्चे माल, तकनीकी या श्रम आदि के लिए दिया जाता है। अगर ये सभी संसाधन समाज के हैं तो उनके लाभ पर भी पूरे समाज का ही अधिकार होना चाहिए। आर.एच. टॉनी को शूमाकर उद्‌धृत करते हैं : 'ये सभी अधिकार— रॉयल्टी, तहबाज़ारी, एकाधिकारी लाभ और अन्य किसी प्रकार के 'अधिशेष'— सम्पत्ति
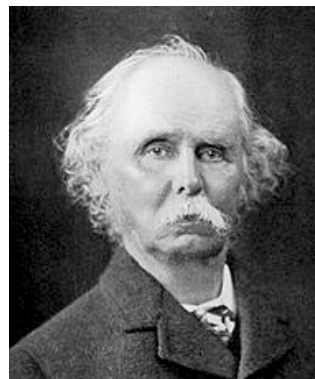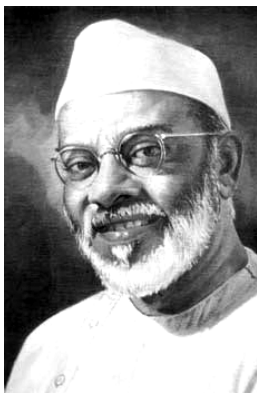
जे.सी. कुमारप्पा अहिंसा पर आधारित आर्थिक प्रक्रिया का विकास करने वाले प्रमुख अर्थशास्त्री हैं। उनका विश्लेषण बताता है कि अस्थायी या क्षणभंगुर अर्थ-व्यवस्था उन संसाधनों पर टिकी होती है, जो इस्तेमाल करने पर धीरे-धीरे कम होते जाते हैं। दूसरी ओर, प्रकृति का चक्र ऐसा है जिसमें अधिकांश चीज़ें उस चक्र की प्रक्रिया में स्वतः नष्ट होती, पुनः जन्म लेती और विकसित होती हैं। कुमारप्पा प्रकृति की इस व्यवस्था, इस चक्र को स्थायी कहते हैं। इस पर्यावरण चक्र को बनाए रखने, उसका संरक्षण-संवर्धन करने की व्यवस्था ही स्थायी व्यवस्था है और यह अहिंसक अर्थ रचना का आधार है।

हैं। इनकी सबसे घातक आलोचना ... उस तर्क में निहित है, जिनके ज़रिये प्रायः सम्पत्ति की संकल्पना का समर्थन किया जाता है।'[41]

गाँधी, दरअसल, जिस तकनीकी या 'स्वदेशी' का आग्रह करते हैं, उसमें उत्पादन के साधनों पर किसी तरह के केंद्रीकृत स्वामित्व और शोषण की सम्भावना अत्यंत न्यून हो जाती है। इस तकनीकी में हर व्यक्ति या कुटुम्ब ही श्रमिक होता है और वही स्वामी भी। उस उत्पादन को उपभोक्ता तक पहुँचाने के लिए किसी बिचौलिए संस्थान की भी ख़ास ज़रूरत नहीं रहती। इस तकनीकी और उससे विकसित उत्पादन संबंधों के कारण पूँजी का शोषणपरक केंद्रीकरण सम्भव नहीं रहता और लाभ के सम्भव समान वितरण अर्थात् आर्थिक समानता का आदर्श भी स्वयमेव ही लागू हो जाता है। ऐसी ही समाज-व्यवस्था को वास्तविक न्यायपूर्ण सामाजिक व्यवस्था कहा जाना चाहिए, जिसकी आर्थिक प्रक्रिया में शोषण की सम्भावना ही न रहे। सत्य और अहिंसा केवल वैयक्तिक गुण नहीं है, बल्कि उनका सामाजिक-आर्थिक प्रतिफल उद्देश्यों में ही नहीं प्रक्रिया में भी अर्थात् साध्य के रूप में ही नहीं, साधन के रूपों में भी दिखाई देना चाहिए। गाँधी के ही शब्दों में : 'मेरी दृष्टि में उस गुण का कोई मूल्य नहीं रह जाता, जो केवल व्यक्तियों तक ही सीमित हो या उस पर आचरण करना केवल व्यक्तियों के लिए ही सम्भव हो।'[42]

उल्लेखनीय है कि अब तो मेजारोस, लेबोविट्ज़ और ईगलटन जैसे नये मार्क्सवादी विचारक भी विकेंद्रीकृत तकनीकी और उत्पादन-व्यवस्था की बात करने लगे हैं— यद्यपि वे गाँधी का हवाला नहीं देते। वे उत्पादन-व्यवस्था पर न कॉरपोरेट का नियंत्रण चाहते हैं, न राज्य का। मेजारोस 'भूमण्डलीकरण' को 'बेरोज़गारी का भूमण्डलीकरण' कह कर व्याख्यायित करते हैं।[43] इसका हल उत्पादन-शक्तियों के विकल्प में ही हो सकता है, जिनमें उत्पादन के साथ-साथ लाभ के वितरण की समस्या का समाधान भी अंतर्निहित है। गाँधी की 'स्वदेशी' की अवधारणा ऐसी ही उत्पादन-शक्ति का आग्रह है, जो न्यायपूर्ण उत्पादन-संबंधों को विकसित करती है।

कुछ आवश्यक बड़े उद्योगों के लिए गाँधी 'न्यासिता' (ट्रस्टीशिप) तथा कुछ पर सीधे राज्य के नियंत्रण का प्रस्ताव करते हैं। 'न्यासिता' एक प्रकार का 'अनासक्त स्वामित्व' है। गाँधी मानते हैं कि पूँजीपतियों को न्यासी के रूप में काम करना चाहिए। यह मालिकों द्वारा शोषण से उत्पन्न पाप का प्रायश्चित्त भी है। वे कहते हैं : 'यदि धनवान लोग न्यासिता के सिद्धांत के अनुसार काम नहीं करते तो इससे सिद्धांत

[41] ई.एफ़. शूमाकर (1997) : 182.
[42] *हरिजन,* 1 सितम्बर, 1940 : 271-72.
[43] इस्तवान मेजारोस (2009) : 159.

की नहीं, धनवानों की दुर्बलता सिद्ध होती है।'[44] न्यासिता के सिद्धांत को व्यावहारिक रूप देने के लिए गाँधी त्रिआयामी योजना प्रस्तावित करते हैं। वे पूँजीपतियों से तो आग्रह करते ही हैं कि वे इसे स्वीकार कर अपने पाप का प्रायश्चित्त करें; लेकिन, साथ ही, वे श्रमिकों और राज्य को भी अपनी भूमिका निबाहने का निर्देश देते हैं। शिक्षण ही नहीं, अहिंसक असहयोग और सविनय अवज्ञा भी गाँधी-दृष्टि में दो सही और अचूक उपाय हैं। गाँधी श्रमिकों से अनुरोध करते हैं कि यदि मालिक अभिभावकों की तरह व्यवहार करने के लिए तैयार न हो तो उन्हें मालिकों के प्रति असहयोग और सविनय अवज्ञा का सहारा ले लेना चाहिए।[45]

गाँधी श्रमिकों के साथ राज्य से भी आग्रह करते हैं कि यदि पूँजीपति न्यासिता के लिए स्वेच्छापूर्वक तैयार न हो तो 'हमें राज्य के ज़रिये न्यूनतम हिंसा का प्रयोग करते हुए उन्हें उनकी सम्पत्ति से वंचित करना होगा।'[46] राज्य द्वारा क़ानून बना कर न्यासिता के सिद्धांत को लागू करने के उद्देश्य से एक 'सरल और व्यावहारिक न्यासिता सूत्र' एम.एल. दाँतवाला द्वारा तैयार करके किशोरलाल मशरूवाला तथा नरहरि पारिख द्वारा गाँधी के सम्मुख प्रस्तुत किया गया था, जिसे किंचित संशोधनों के साथ गाँधी ने अपनी स्वीकृति दे दी थी। इसमें कुल छह बिंदु थे, जिसमें मुख्य बात यह थी कि निजी स्वामित्व के अधिकार को पूरी तरह ख़ारिज कर दिया गया था— समाज द्वारा अपने कल्याण के लिए अनुमति दिये जाने पर ही निजी स्वामित्व रह सकता था।[47] न्यासिता की व्यावहारिकता पर सवाल उठाने वाले यह भूल जाते हैं कि लोकतंत्र प्रकारांतर से न्यासिता ही है— राजनीतिक न्यासिता— और कुछ बड़े उद्योगों को तो गाँधी सीधे राज्य के नियंत्रण में रखने के पक्ष में हैं।[48] बड़े कारख़ानों की आवश्यकता से संबंधित एक सवाल के जवाब में उन्होंने कहा था : 'हाँ, लेकिन मैं इतना कहने की हद तक तो समाजवादी हूँ ही कि ऐसे कारख़ानों का मालिक राष्ट्र हो या जनता की सरकार की ओर से ऐसे कारख़ाने चलाए जाएँ। उनकी हस्ती नफ़े के लिए नहीं, बल्कि लोगों के भले के लिए हो। लोभ की जगह प्रेम को क़ायम करने का उसका उद्देश्य हो।'[49]

यह उल्लेखनीय है कि लेबोविट्ज़ जैसे सोवियतोत्तर मार्क्सवादी भी सामाजिक उत्पादन-संबंधों के लिए उत्पादन के साधनों पर सामाजिक नियंत्रण का प्रस्ताव करते हैं जो राज्य के माध्यम से नहीं बल्कि स्वयं श्रमिकों द्वारा संगठित उत्पादन-प्रणाली का प्रस्ताव है। मेजारोस इस प्रकार की प्रणाली को सहकारी उत्पादक वर्ग— एसोसिएटेड प्रोड्यूसर्स— की संज्ञा देते हैं और गाँधी की तरह मानते हैं कि समाजवादी व्यवस्था का विकास ऊपर से नहीं, नीचे से होना चाहिए।[50] क्या *कम्युनिस्ट मेनीफ़ेस्टो* का *ऑल पॉवर टु दि कम्यूंस* का आदर्श भी लगभग वैसा ही नहीं था, जिसकी भरपूर अनदेखी कथित समाजवादी व्यवस्थाओं द्वारा की गयी है।

अहिंसक तकनीकी, अहिंसक उत्पादन-संबंध और अहिंसक स्वामित्व विकसित करने की अहिंसक प्रक्रिया के दिशा-संकेतों द्वारा गाँधी बार-बार हमें स्थान दिलाते हैं कि हम केवल आर्थिक प्राणी या उपभोक्ता मात्र नहीं हैं और हमारी आर्थिक आवश्यकताएँ न केवल हमारे नैतिक विकास में कहीं भी आड़े नहीं आतीं बल्कि उसमें एक प्रमुख माध्यम बन सकती हैं— यदि हम अपने वास्तविक आत्म को भूले नहीं।[51]

(लेखक की शीघ्र प्रकाश्य पुस्तक *विद्रोही महात्मा* का एक अंश)

---

[44] *हरिजन*, 16 दिसम्बर, 1939 : 376.
[45] वही, 25 अगस्त, 1940 : 260-61.
[46] *दि मॉडर्न रिव्यू*, अक्तूबर, 1935 : 412.
[47] हरिजन, 25 अक्तूबर, 1952 : 301.
[48] वही, 1 सितम्बर, 1946 : 285.
[49] *हिंद स्वराज*, महादेव भाई की भूमिका.
[50] इस्तवान मेजारोस (2009) वही : 75-76.
[51] नंदकिशोर आचार्य (2012) : 62.

संदर्भ

आचार्य कृपलानी (1978), *गाँधी : जीवन और चिंतन,* प्रकाशन विभाग, नयी दिल्ली.
इस्तवान मेजारोस (2009), *दि चैलेंज ऐंड बर्डन ऑफ़ हिस्टोरिकल टाइम,* आकार बुक्स, नयी दिल्ली.
ई.एफ़. शूमाकर (1997), *समुचित तकनीक,* राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली.
एरिक फ्रॉम (1968), *दि रिवोल्यूशन ऑफ़ होप : टुवर्ड्स अ ह्यूमनाइज़्ड टेक्नोलॅजी,* हार्पर ऐंड रॉ, न्युयॉर्क.
जी.ए. नटेसन ऐंड कम्पनी (1923), *स्पीचेज़ ऐंड राइटिंग्स ऑफ़ गाँधी,* मद्रास.
टैरी ईगलटन (2011), *वाई मार्क्स वाज़ राइट,* येल युनिवर्सिटी प्रेस, लंदन.
डेविड डिक्सन (1978), *ऑल्टरनेटिव टेक्नोलॅजी,* फोंटाना/कॉलिंस, ग्लासगो.
दि मॉडर्न रिव्यू (1935).
नंदकिशोर आचार्य (2008), *संस्कृति की आर्थिकी,* सूर्य प्रकाशन मंदिर, बीकानेर.
------------(2012), *सभ्यता का विकल्प,* वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर.
------------(सं) (2014), *अहिंसा विश्वकोश,* प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर.
------------(2018), *अहिंसा की संस्कृति,* राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.
बेरी कॉमनर (1971), *दि क्लोज़िंग सर्किल : कनफ्रंटिंग दि एनवायरनमेंटल क्राइसिस,* रैंडम हाउस, लंदन.
यंग इंडिया.
राष्ट्रीय गाँधी संग्रहालय (2010), *हिंद स्वराज : मूल पाठ और कुछ ऐतिहासिक टिप्पणियाँ,* नयी दिल्ली.
श्यामा चरण दुबे (1996), *विकास का समाजशास्त्र,* वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली.
हरिजन.